

उमापतिधरकृता

# विजयसेनप्रशस्तिः

( copara Inscription of Vijayasena )

( सटीका सानुवादा )

टीकाकारः

प्रो० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषिः'

एम्० ए०, साहित्यरत्नम्

( लब्धस्वर्णपदकः )

संस्कृताध्यापकः, पटना कालेजः

पटना

प्राप्तिस्थानम्

पं० पट्टीप्रसादशर्मा

ग्रा० पो० पोन्दिल

मराडल-गया

उमापतिधरकृता

# विजयसेनप्रशस्तिः

( देवपाडाशिलालेखः )

( सटीक सानुवाद. )

टीका

प्रो० उमाशङ्करशर्मा

एम० ए०, माहित्यरत्न

( लब्धस्वर्णपदक. )

संस्कृताध्यापक , पटना कालेजः

पटना

प्रकाशक —

पं० पण्डी प्रसाद शर्मा,

प्रा० पो०—पोन्डिल,

मगडल—गया ।

प्रथम संस्करण १९६०

सर्वाधिकार प्रकाशक द्वारा सुरक्षित

मुद्रक —

म्यार्क प्रेम प्रा० लि०,

# लेखक परिचय

श्री उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' का जन्म रविवार, पौ० कृ० ६, १९६४ वि० को एक सुप्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल में हुआ था। विभिन्न स्थानों में शिक्षा-ग्रहण करने के बाद इन्होंने प्रवेशिका परीक्षा १९५३ ई० में ससम्मान उत्तीर्ण की। १९५७ ई० में बिहार विश्व-विद्यालय से बी० ए० संस्कृत ऑनर्स लेकर उत्तीर्ण हुए जिसमें प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान तथा डिस्टिक्शन भी मिला। १९५६



ई० में पटना विश्वविद्यालय से एम० ए० (संस्कृत) में दर्शन-वर्ग लेकर प्रथम श्रेणी में प्रथम हुए। सं० २०१५ में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की साहित्य-रत्न की परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी पाई। बिहार सरकार की छात्रवृत्ति लेकर नालन्दा में कुछ दिनों तक बौद्ध न्याय में अनुसन्धान करने के बाद जनवरी १९६० में पटना कॉलेज में संस्कृत-प्रोफेसर होकर आ गये।

कविता में इनकी रुचि बचपन से थी। इन्होंने कृष्णचरित्रायण (हिन्दी काव्य), रामवनवास (हिन्दी काव्य), शान्तिविजयम् (नेहरू की रूस-यात्रा विषयक संस्कृत काव्य), कविकुञ्जम् (संस्कृत प्रहसन) तथा सोहराव और रुस्तम (मैथ्यू आर्नल्ड का हिन्दी-पद्यानुवाद) लिखा है। ये संस्कृत, हिन्दी तथा अंगरेजी में समान रूप से कविता करते हैं। चौखम्बा-विद्याभवन से इनका 'निरुक्त' शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ-रचना की ओर इनकी प्रवृत्ति बहुत अधिक है।

— प्रो० सर्वानन्द पाठक  
नालन्दा।

# समर्पणम्

‘सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्’

शिथिलशरीरं परममधीरं

मां पश्यसि न चिराय हे

कृति

तव चरणेषु ममाब्जलयः ॥

नवसमयोऽयं प्रकृतोऽयं स्वागतमेव तनोति,

अपि शुभकालेऽनागतवाले किं हृदयं न दुनोति ?

तव शुभसार मधुरविचारं

याति स्मृतिमविहाय हे

तव चरणेषु ममाब्जलयः ॥

चेतोहारिणि सङ्गतिकारिणि क गता सा खलु देवी ?

हारं हारं मम हृदि भारं चरणानामिह सेवी ।

हृदि तव चित्रं परमपवित्रं

कल्पत एव वराय हे

तव चरणेषु ममाब्जलयः ॥

‘ऋषिः’



परिचय

और उसके सामने तालाब का निर्माण कराया या जिसका प्रस्तुत लेख में वर्णन है। विजयसेन का पुत्र बल्लालसेन हुआ जिसकी पत्नी बलुक्य-कुल की राजकुमारी रामदेवी थी ( माधवा नगर )। उसका भी नईहाटी दानपत्र मिला है। इसका पुत्र विरयात लक्ष्मणसेन हुआ जिसकी पत्नी चन्द्रा देवी या श्यष्टनदेवी थी। इसने लक्ष्मण-सदृश चलाया। इसका कई लेख मिले हैं। इसकी राज सभा में कई परिदत्त थे जिनमें जयदेव उमापतिधर, धोबी, गोवर्द्धन, शरण आदि मुख्य थे। इसके दो पुत्र विरवरूपसेन और केशवसेन थे जिनका लेख भी प्राप्त है। इनसे ही बगल के सेनवंश का अन्त पाया जाता है क्योंकि इस समय तक यवनों का आक्रमण होन लग गया था।

२ कवि उमापतिधर — प्रस्तुत प्रशस्ति के रचयिता उमापतिधर हैं। यद्यपि उन्होंने इसमें विजयसेन तक के ही राजाओं का वर्णन किया है किन्तु मेल्हूष के प्रबन्ध चित्तार्णव के आभार पर इन्हें लक्ष्मणसेन की सभा में श्रद्धा स्थित माना जाता है। इसके अलावे जयदेव का यह प्रसिद्ध श्लोक भी प्रामाणिक माना जाता है —

गोवर्द्धनश्च शरणो जयदेव उमापति ।

कविराजश्च रत्नानि समिता लक्ष्मणस्य च ॥

पुन भीमदुर्मागस्त की भावार्थ दीपिनी टीका पर वैष्णव तोपणी नाम की टीका में एक स्थान पर लिखा है— धीजयदेवमहचरणेन महाराजलक्ष्मणसेनवर्तिन चरणोमापतिधरणा ( सं० शब्दार्थ कोस्तुभ परिशिष्ट, पृ० ६० )।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उमापतिधर विजयसेन से लेकर लक्ष्मणसेन तक के समान रह रहे होंगे। इनका समकालीन जयदेव ( गीतगोविन्दकार ), धोबी या कविराज ( पद्मनटकार ), शरण ( दुर्बेगता के रचयिता ), गोवर्द्धन ( आर्यासप्तशती ) आदि बह-बह कवि और परिदत्त थे। प्रस्तुत प्रशस्ति के अलावे उमापतिधर की रचनामें द्विद-पुत्र रूप से मूर्तिरर्णव, मुमयिन्मुहूर्तानी और राजा पर पदवि में मिलती है।

३ उमापतिधर की काव्य शैली — प्रस्तुत प्रशस्ति में ही कवि ने

वैचित्र्य है जिसे हम पूरी प्रशस्ति में पाते हैं विशेषतया शिव के विषय में कही गई उक्तियों वही ही मार्मिक ह ( रत्नोक्त ३० ३१, ३२ ) । कवि के विषय में यहाँ स्थानाभाव से अधिक न कहकर यही कहना पर्याप्त होगा—

क्षण क्षण यक्षयतामुपैति सदेव रूपं रमणीयताया ।

४ प्रशस्ति —यह प्रशस्ति ३ पी० २ ई सम्वत् तथा १ फुल ६ ई चौह पत्थर पर खुदी हुई सन् १८६५ ई में मैग्नाफ के द्वारा पायी गई थी । सम्प्रति कलकत्ता के संग्रहालय ( Indian Museum ) में रखी है । इसका सम्पादन मैग्नाफने ( Journal of Asiatic Society of Bengal ) में तथा कीलहॉर्न ने एपिग्राफिया इंडिका ( भाग ० १ पृ० ३० ५ १५ ) में किया था । पुनः डा नैनी गोपाल मजुमदार ने सन्वत्शीय राज्यों के शिलालेखों के साथ से Inscriptions of Bengal ( Vol III ) में प्रकाशित किया ।

५ प्रस्तुत प्रयास —इसकी प्रेरणा गुहजर आचार्य चन्द्रकान्त पाण्डेय ने सम्बद्ध है जिन्होंने मेरी निष्पत्ति पटना कालेज में हो जाने पर मेरी स्वाभाविक रूचि देखकर मुझे षष्ठ वर्ष में यह विषय पढ़ाने को दिया । आधुनिक वैज्ञानिक युग में बेचार छात्रों को पाण्डुर्लाप से पठत देख मुझ बहुत रोद हुआ तथा इसे प्रकाशित करने का संकल्प कर लिया । संस्कृत में प्रना वाख्या तथा हिन्दी अनुवाद के साथ इसे मन होली की छान्छों में तीन दिन ब्रत में बैठकर दिन रात लगतार परिश्रम करके तैयार हो कर लिया । इसलिये मैं अपने भैया का बहुत कृतज्ञ हूँ कि इन तीन दिनों में घर में उन्होंने मुझे ही निहनाद किया परन्तु मुझ साधना में सत्पर देखकर बिलकुल छोड़ दिया ।

प्रस्तुत प्रयास की अच्छाई बुराई कृपण पाठक और विद्वानों पर ह । यदि यह ठीक ठीक पसंद आई तो शीघ्र ही मैं शिलालेखों का बड़ा साहित्य प्रकाश में लाऊंगा ।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

लेखक —

‘प्रति’



# विजयसेन-प्रशस्तिः

## प्रभाख्यव्याख्यावांलता

‘पश्य देवस्य काव्यं न समार न जीर्यति’ ( अथर्व० ) ।

नमो नित्यं सरस्वत्यै गुरवे वनमालिनं ।

वाणी मे सफला भूयाच्छिलालेखप्रकाशने ॥१॥

नावीतं पदशास्त्रमप्यवगतः कोशो न सम्यङ्मया

साहित्येऽपि न सावना किल कृता तर्के सदा धर्षितः ।

वामदेवीपदवन्दनार्जितयशोराशिप्रकाशीकृत—

स्नानन्दप्रभवा प्रमेयमधुना व्याख्या समाख्यायते ॥ २ ॥

अत्र तत्रमयान्महाकविरुमापतिवर, स्वाश्रयदस्य राज्ञो विजयसेनस्य कीर्ति-  
भूतस्य प्रद्युम्नश्वरभान्दरस्य निर्माणवर्णनात्पुं स्वप्रतिपिप्तिमर्गं प्रतिपित्सु ‘मङ्ग-  
लार्थानि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्त’ इति भगवतो भाष्यकारस्य  
पतञ्जले च न स्मार दण्डिनो महाकवे ‘अशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मु-  
खम् इति वचनमुत्पत्त्यादौ नमस्कारात्मकमङ्गलमुखमारभतौ प्रशस्तिकाव्यमिदम्—

ॐ ॐ नमः शिवाय ।

श्रीः।मति॥ ॐकारो मङ्गलवाची, उक्तञ्च—

श्रीद्वारश्चाय शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।

कण्ठमिवा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकाविमौ ॥

ॐ कारद्वयं मङ्गलप्रकर्षार्थम् । अथवा प्रथमं ॐकारो मङ्गलवाची, अपरस्तु  
नमः शिवायति पञ्चाक्षरमन्त्रस्यारम्भद्योतनार्थं श्रूयते हि तन्त्रेषु—‘न श्रीद्वारम-  
नात्तत्र रुशिनमन्त्रं प्रवर्तते, । एतेन मन्त्रशब्देन वैदिको मन्त्रस्तान्त्रियो वापि

प्रतीयते । अत एव श्रीहर्षादीनां काव्येषु ओझारमग्रेसरमस्य कुर्या इत्यादीनां  
साधीयस्त्वम् । मङ्गलञ्च विष्णुविनाशनहेतुभूतम् । नम इति स्यापट्टञ्चपूर्वक-  
परीट्टञ्च षडोष्क-शब्द ॥

सम्प्रति शिवस्तुतिर्यथा प्रशस्तितमारमते—

वक्षोशुकाहरणसाध्वसकृष्टमौलि—

माल्यच्छटाहतरतालयदीपभास ।

देव्यास्त्रपामुकुलित मुखमिन्दुमाभि—

वीक्ष्याननानि हसिताग्नि जयन्ति शम्भो ॥१॥

वक्षोशुकेति ॥ वक्षसि विराजमानस्याशुकस्य वस्त्रस्याहरणाद्ग्रीकरणा-  
त्साध्वम भव्यं, तेन कारयेन कृष्टं स्वस्या मौलिशिशरसो भागं तस्यच्छटा । सया  
चच्छ्रया रतालयस्य रतिगघनस्य दीपानां भासन्नि इता यया तस्या देव्या  
पार्वत्या । इन्दुमाभिरुच्यतेतिमिन्द्रपया लज्जया मुकुलितं मुखं कमलस्य सदृशम्  
इन्दुमाभि कमलानामेव निसर्गवैरत्वात् । अतएव कमलसदृशस्यैवाननस्य हरशिर-  
स्थितस्य चन्द्रस्य प्रकाशेन त्रपामुकुलितत्वं साधीयम् । तथाभूत पावत्या मुखं वीक्ष्य  
शम्भोऽग्निनानि पञ्च ननानि जयन्ति उत्कृष्टत्वेन वन्द्यानि स्तुतिर्यथा । एतन्नो  
माया माहमच्छ्रया सर्वप्रकाशकत्वं जगतः पित्रोश्च परस्परसंयोगश्रुत्तारम्भं मङ्गल-  
योत्यते । प्रयेणात्रौको गुणः यथाह दण्डी— ओम् समासमूयस्त्वमेतद् गणस्य  
जीवितम् । वक्षानिलकं वृत्तम् ॥१॥

सम्प्रति देवदृष्टं वर्णयति—

लक्ष्मीवल्लभशैलजादयितयोरद्वैतलीलागृहं

प्रद्युम्नेश्वरशब्दलाञ्छनमधिष्ठान नमस्कुर्महे ।

यत्रातिङ्गनभङ्गकातरतया स्थित्वा तरे कान्तयो—

वेवीक्ष्या कथमप्यभिन्नतनुलाशिल्पेऽतराय कृत ॥२॥

लक्ष्मीवि ॥ लक्ष्म्या वल्लभस्य विष्णोः शैलजाया पावत्या दयितस्य  
पत्युः शिष्यस्य चाद्वैतलीलाया एकीभवनश्रीलाया गृहं, पत्नेऽद्वैतं लीलागृहम्, वधयो-  
रैक्यस्य चित्रं भवनमिरमते । प्रद्युम्नेश्वरशब्दस्याद्यत्वे 'प्रद्युमसर इत्यस्य लाञ्छ-



प्राप्ताण तूर्यशब्देन सर्पं खेलयति, तथाऽपि राजाऽपि कृपाणवौशलं पाणिना प्रदर्शय-  
तीति भावः । तदग्राहणमप्यापि, द्विधीभूता विच्छिन्ना यत्र तत्र पलायिता  
विपक्षस्य शत्रोः पुष्कराणां गजानां घटा ममहास्तेषां वरिलघ्वा विदीर्णा कुम्भस्य  
रपोलस्य खली, तस्या मुक्तामणयस्त एव निर्मूल्यत्वेन स्थूला अशोभना  
चरार्थकाः काङ्क्ष्य ( कोधी ) तायां चरिकरैस्ममूहेर्व्याप्तम् । बहवः शत्रुगजा  
निहता इति भावः । ५५ कमलद्वार ॥६॥

गृहाद् गृहमुपागतं व्रजनि पत्तनं पत्तना—

वनाह्वनमनुदु त भ्रमति पादप पादपात् ।

गिरेर्गिरिमधिश्चित तरति तोयधि तोयधे—

५६ यदीयमरिसुन्दरीराक्कपृष्ठलग्नं यश ॥७॥

गृहादिति ॥ यदीय यस्य राजो यशस्तस्यारीणां सुन्दरीणां (पलायमानानां  
मतीनां) मरक प्रयाणं तस्य पृष्ठे लग्नं सत् । तायां यानालुगामीति यावत् ।  
गृहादित्येव गृहमुपागतं, पत्तनान्नगरात्तारान्तरं व्रजति, वनाह्वनान्तरमनुदु तं  
भारति स्म, पादपाच्च पादपान्तरं भ्रमति, गिरेर्गेर्ध्वन्तरमधिश्चितं, तोयधे. ममुद्रादपरं  
ममुद्रं तरति । एव तदरिसुन्दर्यं यथापन्नाः सर्वत्र भ्रमन्ति स्मात् भावः ।  
पृ. ५६ ॥७॥

एदानीं गुह्यं नान्येणाम्य विजयमाह—

दुर्गं क्षानामयमगि सुलाकीर्णकर्णटिलदमी—

लुगटारानां रुदनमतनोत्ताहगेकाङ्गधीरः ।

यन्माः रात्रिदत्तयन्माममं न मुभिन्ना

विदितानि न नानानि वक्षामासमेदासि ततस्तेषां भुविच सुलभता मस्यां तां दक्षिणां  
 दिशं न त्यजति । अपरिमेयारातिविनाशातो वा वषादभोऽद्यत्वेऽप्यक्षीणा इत्युक्तिवै-  
 चित्र्यम् । यमश्च दक्षिणादिवासी तस्य हेतुलप्रोक्त । मन्दाक्रान्ता वृताम् ॥८॥

साम्प्रतमस्य वानप्रस्थदशामाह— ३॥८॥

उद्गन्धी याज्यधूमैश्च गशिशुरसितास्त्रिभवेखानसस्त्री— १८३।

स्तन्यक्षीराणि कीरप्रकरपरिचितमहापारायणानि । ५।८

येनासेव्यन्त शेषे वयसि भवमयास्कन्दिमिमस्कारीन्द्रै १७ १३

पूष्णोत्सङ्गानि गङ्गापुलिनपरिसरारण्यपुण्याश्रमाणि ॥९॥

उद्गन्धीनीति ॥ येन राज्ञा शेषे वयसि वृद्धावे आयस्य वयस्य धूमैरुद्ग-  
 धीनि उद्गतो गन्धो येषां तथाभूतानि । गच्छत्येदुत्पत्तिप्रपुरमिभ्य ( ३ ४ १३५ )

इतीदमम् । मृगशिखुभी रसितान्मास्नादितान्यजिष्ठा प्रसन्ना इत्यर्थः । यः  
 वैकान्तानां भुनीनां स्निग्धस्तासां स्तन्यानि क्षीराणि येषु तानि । कीराणां शुक्रानां

प्रकरैर्निबध्ने परिचितो ब्रह्मणो वेदस्य पारायण पाठो येषु तानि । कादम्बर्याम्भो  
 हम्—‘जगुय हेऽभ्यस्तमस्तबाह्मयैरिति’ ( श्लोक १२ ) । भव पुनर्जन्म तस्य

मयास्कन्दिमि शुण्यद्विबुध्यमानैर्वा । स्कन्दिर्गतिशोधयामो, ताच्छीव्ये णिनि ।  
 मस्कारीन्द्र योवीरवरै । मस्करमस्करिणो हेतुपरिणामक्यो ( ६ १ १३४ ) इति

निपातनामुद् । पूष्ण वस्त्रं प्रवेश्यो । येषां तानि, गङ्गायां पुलिनश्च तीरस्य परिसरे  
 श्वदेशेऽरण्येषु पुण्यानि, तथाभूतायाश्चमाण्यसेव्यन्त सेवितानि । इदत्वेऽप्यो

वनमगात् । अनुप्रासोऽलङ्कारः ॥९॥

साम्प्रतं तत्तनय हेम तसेन वक्ष्यति—

अचरमपरमात्मज्ञानभीष्मादमुष्मा— १॥९॥

त्रिनमुजमदमत्तारातिमाराङ्कुरैः । २५८५ १०५०५

अभवन्नवसानोद्भिन्ननिष्पत्ततत्तद्—

अचरमेति ॥ नास्ति चरमो दितीयो यश्च तथाभूते परमात्मनो जनयो

अथ इव अमुष्मान्नाम तसेन निजानां भुजानां भवेनाभिमानेन मत्ता येऽरातयस्तैश्च

मारो मारणमङ्गुश्चिह्नं यस्य स चाऽसौ वीर । नावसानमन्तं यथा तथोद्भिन्ना-  
स्पष्टा निशिक्ता निर्मलास्ते ते प्रत्येक गुणास्तेषा निबद्धस्य समूहस्य गहिम्ना वेश्म  
गृहे वासो हेमन्तसेनस्तत्पुत्रोऽभवत् । रुपकमलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥१०॥

मूर्द्धन्यद्धेन्दुचूडामणिचरणरजः सत्यवाक्कण्ठभित्तौ  
शास्त्रं श्रोत्रेऽरिकेशाः पदभुवि भुजयोः क्रूरमौर्वीकिणाङ्क ॥११॥  
नेपथ्य यस्य जज्ञे सततमियदिदं रत्नपुष्पाणि हारा—  
स्ताटङ्क नूपुरस्रक्कनकवलयमप्यस्य भृत्याङ्गनानाम् ॥११॥

मूर्द्धनीति ॥ मूर्द्धनि शिरस्यद्धेन्दुश्चन्द्र एव चूडाया मणिर्यस्य स शिव-  
स्तस्य चरणरजो धारयति, कण्ठमेव भित्तस्तस्या सत्यवाक्, श्रोत्रे कर्णयोः शास्त्रं,  
पदभुवि चरणतलेऽरीणा शत्रूणां केशाः, भुजयोः क्रूरा मौर्वी धनुर्ज्या तथा किणाः  
घरां तस्याङ्गुश्चिह्नम्—एवमेव यस्य नेपथ्यमाभरणं सततं जज्ञेऽभूत् । तेषु  
अङ्गेषु रत्नान्येव पुष्पाणि तानि मूर्द्धनि, हारा कण्ठे, ताटङ्कं कर्णाभरणं कर्णयोः,  
नूपुरं पदयोः, एगमाल्यं च भुजयोः, एतान्याभूषणानि त्वस्य भृत्याङ्गनानामेव,  
दास्य एव धारयन्ति स्मैतानि । बाह्याभरणत्यागपूर्वकमान्तरगुणधारणरूपोऽर्थो  
व्यङ्ग्यः ॥११॥

यद्दोर्वल्लिविलासलब्धगतिभिः शल्यैर्विदीर्णोरसा

वीराणां रणतीर्थवैभववशादिव्य वपुर्विभ्रताम् ।

ससक्तामरकाभिनीस्तनतटीकाश्मीरपत्राङ्कित

वच्च प्रागिव मुग्धसिद्धमिथुनैः सातङ्कमालोकितम् ॥१२॥

यदिति ॥ यस्य दोर्मुजावेव वल्ली तयोर्विलासेन लब्धा गतिर्यैस्तैः शल्यैः  
शस्त्रैर्विदीर्णमुरो येषां तेषां पुन रणमेव तीर्थं तस्य वैभवस्त्वृद्धिस्तद्वशाद्देतोर्दिव्य  
वपुः शरीरं विभ्रता धारयता वीराणाम् । प्रागिव पूर्वमेव, यथा पूर्वं रक्तं प्रवहति  
स्म तथैवेदानीमपि । तेषु वीरेषु सङ्गता प्रेम्णाऽऽसक्तानाममरकाभिनीनां  
देवाङ्गनानां स्तनतटीषु यत्काश्मीरपत्रं रक्तवर्णां कुङ्कुमरेखां तेनाङ्कितं वच्च । मुग्धा  
भोता ये सिद्धास्तथा मिथुनैः सातङ्कं सभयमालोकितं दृष्टम् । पूर्वं शस्त्रैर्विदीर्णवजसा  
वीराणां वच्च सु यथा रक्तवर्णां ननु तथैवेदानीं स्वगतेषां देवाङ्गनासङ्गानां तस्यै

स घकुङ्कुमरस्तवर्णानां वर्णो वर्तत इति समयमलोकि । भान्तिमदुल्लेखयो  
रुद्ध ॥१२॥

६१०५३)

प्रत्ययिव्ययकेलिकमणि पुर स्मेर मुख विभ्रतो—

रेतस्यैतदसेश्च कौशलममूहाने द्वयोरद्भुतम् । १०॥

शत्रो कोऽपि दधेऽयसावमपर सख्यु प्रसाद व्यधा—

१०॥ देको द्वारमुपाजहार सुहृदामन्य प्रहारं द्विपाम् ॥१३॥

प्रत्यर्थीति ॥ प्रत्यर्धिना शत्रूणा मित्राणा वा व्ययो विनाशो घनत्यागो वा  
परिभेस्तस्मिन् कलिकमणि । शत्रूणां मित्रां मोक्षे चेत्यर्थः । पुरोऽपि एक  
स्मेर मित मुख विभ्रतोर्धारयतोरेतस्य राक्षसैतस्मादे कृपाणस्य चैव द्वयोर्दनि  
दानविषयेऽदभुत कौशलममूह । कथमित्याह—कोपि कृपाणमित्यर्थः । शत्रोरवसाद  
दुःख चकार अपरस्तु राजा सख्युमित्रस्य प्रसाद प्रसन्नता व्यधादतनोत् । पुनरप्येकी  
राजा सुहृदा मित्राणा तस्मिन्नेककर्मणि हारमुप कहारोपाहारवेनाददात् । अयोऽ  
स्मासिस्तु दिवा शत्रूणा, 'सत्सूक्ष्म' ( ३३६१ ) इत्यादिना विवृत् । प्रहार  
घातमेवोपाहारवेनाददात् । यमकवाच्यलिङ्गयो संछष्टि ॥१३॥

महाराज्ञी यस्य स्वपरनिखिलान्तपुरवधू— १०॥ १०॥ १०॥

शिरोरत्नश्री कीरणासरणिस्मेरचरणा ।

(निधि का ते साध्वीप्रतवितुलनित्योत्थलयशा

यशोदेवी नाम त्रिभुवनमनोहाकृतिरभूत् ॥१४॥

महेति ॥ यस्य यशोदेवी नाम महाराज्ञी स्मेषा च परेषा च शत्रुमित्राणा  
मित्रस्य । निखिलाना सर्वसामन्तपुरवधूना शिरस्तु गानि रत्नानि तेषा श्रेण्या  
पङ्क्ते कीरणाना सरणयो मार्गस्ते स्मेरी प्रकाशितौ चरणौ यस्य सा । सा च  
कान्ते शोभाया निधि, साध्वीना पतिप्रदाना मत तन विततं विस्तीर्णं नित्यमु  
ज्ज्वलं च यशो यस्यास्तथाभूता । पुनस्त्रिषु भुवनेष्वपि मनोज्ञा कमनीयतमाऽऽ  
कृतिर्वस्या एवम्भूता साऽभूत् । अत्रुपासीऽङ्गुष्ठपङ्कज । शिखारिणी उताम् ॥१४॥

साम्प्रतमस्य सुतु विप्रयत्नेन वर्णयति—

तन्मित्रजगदीश्वरात्समजनिप्त देव्यास्ततो

ऽयरातिन ग्णातनोज्ज्वलकुमारकेलिजनः ।

चतुर्जलधिमैत्रतावलयागीगदिन्वम्भरा --

त्रिशिष्टजगन्वान्वयो विजयनेन वीपनि । १६॥

नत इति ॥ तत्तन्मित्रजगताऽपीश्वरात्सामन्तनेना तस्या दद्यात्तन,  
अरातीना रात्रिगुणान्तरस्य शासनन द्वागशेनोज्ज्वल कुमारोऽतः कालकः क्रीडा-  
मार्गो यस्य तथाभूत । चतुर्णां जलानामेव मैत्रतावलयां वाञ्छावन्तन तस्य  
सीमा पारेऽवयस्यास्तभाभूताया विश्वम्भराया प्रयव्या त्रिशिष्टो जय इति 'विजय'  
नामयोग्यः । तेन सान्वयोऽन्वयेनामा विजयसेनश्चासौ पृथ्वीपातश्च समर्जगिष्ठ  
सञ्जात । जनेर्लुङ्घि सिच् ॥१५॥

गणयतु गणश. को भूपतीस्ताननेन

प्रतिदिनरणभाजा ये जितः वा हता वा ।

इह जगति विपेहे स्वस्य वंशस्य पूर्वः

पुरुष इति सुधांशौ केवलं राजशब्द ॥१६॥

गणयत्विति ॥ प्रतिदिनं रणं भजते स्वयति तेनानेन राज्ञा ये भूपतयो  
जिता ये वा हतास्तान्भूपतीन्गणश समुदायेन को गणयतु ? न कोऽपीत्यर्थः ।  
तथा चानेन स्वस्य वंशस्य पूर्वः प्रथमं पुरुषश्चन्द्रवंशत्वात् ( श्लो० ३ ) । इत्येव  
ज्ञात्वेह जगति केवलं सुधांशौ चन्द्रमस्येव राजेति शब्दो विपेहे सहाते स्म । 'परि-  
निविभ्यः सेवसितसयधितुसहसुस्तुस्वञ्जाम्' ( ८-३-७० ) इति षत्वम् । सोमोऽ-  
स्माकं ब्राह्मणानां राजेति श्रुतेः । अन्ये तु राजानस्तेन विनष्टा एवेत्यस्य चक्र-  
वर्तित्वं द्योत्यते ॥१६॥

सङ्ख्यातीतकपीन्द्रसैन्यविभुना तस्या रिजेतुस्तुला

किं रामेण वदाम पाण्डवचमूनाथेन पार्थेन वा ।

हेतोः सङ्गलताचतंसितभुजामात्रस्य येनार्जितं

साम्भोधितदीपिनद्वचसुधाचक्रैकराज्यं फलम् ॥१७॥



सद्व्येति ॥ तस्यारिजेतु शत्रुविजयिनः तुलामुपमाम् । तुल्याभासुलो-  
पमाभ्याम् ( २३७२ ) इति षष्ठी । किं सद्व्यमतीता । द्वितीया ध्रुवातीत-  
गत्यस्तप्राप्तपक्षे ( २१२८ ) इति द्वितीयास्तप्राप्त । तच्च कृपीद्रास्तेषां  
सैन्यस्य विभुना स्वाभिना रामेण वदाम किं वा पाण्डवामा चमूस्तेना तरया भायेन  
पाथेनाऽनु नम वा वदामेति स देह । रम रङ्ग । न लता, तथाऽवतपिता शोभिता  
मुजैव तरय । खड्गयुद्धद्वयस्यैवेति भाव । तस्य हनो फल तु सप्तानामम्भोधीना  
तदी पितृदा धता वस्त्रादस्त्रपेण मया बहुभया तारयचक्र मण्डलमेवैकराज्य तथा-  
भूतमभितम् । अस्परय कारयस्यानल्पफलत्वाद्भिभावनालङ्कार ॥१७॥

एकैकन रुणेन य परिणत तेषा विवकादृत

कारिचन्द्र-सपरश्च रक्षति सृजत्य यश्च कृत्स्न जगत् ।

दधोऽयं तु रुणो कृतो बहुतिथैर्धीमान् च धान द्विपो

५७८१ वृत्तस्थानपुपञ्चकार च रिपून् छदन दिव्या प्रजा ॥ १८ ॥

५७८१ एकैति ॥ योऽत्र देवैरेकैकन प्रत्यक्षमनन रुणेन हस्तेन जगत्पारणत  
प्रवर्तितं, तथा दधानाम् । यतश्च । नङ्कारणम् ( २३४३ ) इति षष्ठी । विवेकान्त  
निविचेक कर्तव्यमात विचित्य चरिचन्द्र-त-। शब्द अपरो रक्षति-विष्णु  
अन्यस्य सृजति-महा अयं तु दधो धीमान्-वचनी कर्त्तु । बहुना पूरय-बहुतिथ ।  
'तस्य पूरणे कर्त्तु' ( ५०८ ) इति कर्त्तु परत बहुपूराण-अर्थस्य तिबुक्  
( ५४५२ ) इति तत्पुण्यम् । रुणे कृत, यतो इह । दधो शत्रु-वचन,  
वृत्तस्थानस्वमण्डलधतिनोऽपुषत, रिपून् छन्देन च दिव्या प्रजा स्वप्रकार-वकार  
सृष्टवान् । अदेवाना तु अवेकमेको रुण, अस्य तु सब रुणा एकत्रैवति  
विशेष ॥१८॥

दत्त्वा दिव्यभुव प्रतिक्षितिभूतामुर्ध्वामुरीकुर्यता

वीरासृग्विपलाब्धितोऽसिरमुना प्रागेव पत्नीकृत ।

नेत्यं चेत्कथमन्यथा वसुमती भोगे विवादोऽमुखी

तत्राकृष्टकृपाणधारिणि गता मङ्ग द्विपा स तति ॥१९॥

इत्येति ॥ अदिगता नो विरोध-। इति सूता वृषणा दिव्या भुवो दत्त्वा ।

तान्मुद्धो स्वर्गं प्रोक्ष्येत्पर्यं । तस्य स्थाने योर्वा पृथ्वीमुखवता स्वीकृताऽमुना ।  
 शत्रुषु स्वर्गतेषु तेषां राज्यं तेनावकृतमित्यर्थः । अनेव नित्यविनिमयव्यापार इति  
 भावः । वीरशान्द्वन्द्वमेव लिपिस्तथा तांश्चो तिखितोऽसिः पत्रांकृतः ।  
 पत्रं राजकीयभूत्यापारतेखस्तदूपेण सम्पादितं । न केवलं यो भोगे भोगविषये  
 विवादोन्मुखा कृतविवादा बहुमतो वयमित्यं तदवीना स्यात् । अनन्तरं भोगविषये  
 अकृष्टं कृपाणं ( पत्रं ) वारायेतु रीतिं यस्य तस्मिन्नाजने द्विषा सन्ततिमङ्ग  
 गुता पराजिता । अनेव पत्रे लिखते इति, विवादे सन्त्यक्ते पृथ्वी तदवीना  
 बभूव शत्रुपक्षेण पराजितः । तन्मूर्ध्निपक्षेण पत्रमासात् । अनेव पत्रे न  
 लिखिते पृथ्वी तदवीना नाऽभ्यवन्दयितुं नव । उक्तञ्च—विवादेऽन्विष्यते  
पत्रम् । नञ्जनान्वलितोऽयं रतीकञ्चन्त्कारप्रत्ययः ॥१६॥

तत्र नान्दवीरविजयीति गिरः कवीनां  
 श्रुत्वाऽन्यथा मननरुढानिगुह्यरोषः ।

गौडेन्द्रनद्रवद्रपाकुतः कामरूप—

भूतं कलिङ्गपि यस्तरसा जिगाय ॥२०॥

त्वमिति ॥ तं नान्दवीरदेशस्य वीरदेशस्य च विजयी कर्तुं कवीनां  
 गिरः श्रुत्वाऽन्यथा मननरुढानिगुह्यरोषः । तस्य—नान्दवीरविजयी  
नर्तयति । नन् प्रकाशतो निगुह्यो दुग्गतस्य रोषः कोन्स्तयान्तो यस्तरसा  
 शोऽनेव नवीरवर्ध्यात् उशारतनं तु गौडेन्द्रनद्रवद्रपाकुतवान्, कामरूपभूतं  
 बान्धुन द्रव्यकार । अद्भुतकस्य कृते 'गन्धनावचेन्द' ( १-३-३२ )  
 इत्यादिनाऽऽजनेपञ्चम्, तुह्यं त्रिव 'तस्य' ( १-३-१० ) इति कित्वाद्  
 दुराजनेन 'हस्तविकार' ( ८-२-१७ ) इति सतोः । कलिङ्गपि जिगाय  
 त्रिन्वाद् । 'सन्ततिमङ्ग' ( ७-३-२७ ) इति कृतम् । एवमावन्वीरविजयी  
 बभूवत भवः ॥२०॥

शूरमन्य इवासि नान्य किमिह स्वं राज्यं रतावते

स्पर्धां वर्द्धनं मुञ्च वीर विरतो नाद्यापि दर्पस्तव ?

४८५० ॥ १० ॥ १० ) १० ॥ १० ॥ १० ॥

इत्ययोन्यमहर्निश प्रणयिभि कोलाहले दमामुजा ॥ १॥  
 ५६५॥ १० ॥ यत्कारागृह्यामिकैर्नियमितो निद्रापनोदकलम् ॥ २॥

शूरमिति ॥ आत्मानं शूरं मयते इति शूरम्भ्यः । आत्ममाने खरश्च  
 ( ११८३ ) इति खशि 'अरुद्धि' पदञ्च तस्य मुम ( ६० ६७ ) इति मुमागम ।  
 स इव हे नान्य ! त्वमसि । हे राघव ! त्वमिह स्वमात्मानं किं श्लाघये प्रशमये  
 कुनो न रणे काशलं प्रदर्शितम् ? हे वदन् ! त्वं स्वकीया स्पृहा परैरन्यासिद्धनञ्चा  
 पराभिभवेच्छा मुञ्च स्यज । हे वीर ! ते दपोऽप्यपि न विरतो भवतः । इत्येव  
 अप्रकारेण योऽयं परस्परमहर्निश प्रणयिभिरुत्पद्यमानै दमामुजा तेन वन्दीकृताना  
 भूषाहाना कोलाहलैर्यस्य कारागृहस्य यामिकैर्यमि नियुक्तै प्रहारभिरित्ययम् । 'तत्र  
 नियुक्त ४४ ६ ) इति अञ् । निद्राया अपनोदा विनाशस्तस्मिन् यत्नम  
 अम. स नियमितोऽस्वीकृत । तत्तद्वाज्रध्वनिमिरते प्रसङ्गा सन्त प्रहरियो निद्रा-  
 खयेऽप्यभ्रान्ता एवेति भावः ॥ २१॥

पाश्चात्यचक्रजयकेलिषु यस्य यायद्  
 गङ्गाप्रवाहमनुधावति नौविताने ।

भर्गस्य मौलिसरिदम्भास भस्मपङ्क -  
 लग्नोष्मिक्तेषु सरिरिन्दुकला चकास्ति ॥ २२॥

पाश्चात्येति ॥ पश्चाज्जातम्पाश्चात्यं परिचमम् । 'दाक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्'  
 ( ४२ ६८ ) इति त्यक् । दक्षिणाया चकाया राज्याना अय एव केलि कीडा  
 तेषु नावा नौकाना विताने समुद्रे यस्य तरिनीका यावद्गङ्गाप्रवाहमनुधावति तावत्सा  
 नौभर्गस्य शिवस्य मौली स्थिता वा सरिद् गङ्गा तस्या भस्मसि जले भस्म एव पङ्क  
 स्तस्मिंश्लग्ना पुनरुष्मिता मुञ्च । पुष्पुपेति समासः । इन्दुकलैव चकास्ति  
 शोभते । अयकेलिरा देनास्य अयमात्रा जलकेलिषुदेव सरलेति सूच्यते ॥ कीडह  
 रणमहोदयस्तु तरिमेषोपमानमिन्दुकलान्नोपमेयं मन्यते, तत्र अयमात्रायां तरेरेव  
 प्रस्तुतवस्तुत्वान् । उपमासङ्कार. ॥ २२॥

मुक्ता कर्पासबीजैर्मरकतराकल शाकपत्रै रलावू—

पुष्पै रूप्याणि रत्न परिणतिभिर्दुष्टै कुक्षिमिदादिमानाः ।

कुष्माण्डीवल्लरीणां विकसितकुसुमैः काञ्चनं नागरीभिः

शिद्यन्ते यत्प्रसादाद्बहुविभवजुषां योपितः श्रोत्रियाणाम् ॥२३॥

मुक्ता इति ॥ यस्य राज्ञ प्रसादाद्बहुविभवजुषन्ते सेवन्ते इति तेषां, प्राप्त-  
बहुवनानामत्ययः । श्रोत्रियाणां वेदाध्यायिना योपितः स्त्रियो नागरीभिर्नगरवासि-  
नीभिर्नारीभरचुराभिरित्यर्थः । शिद्यन्ते जातुम् । २ क्ता. कर्षामाना वीजैः, मरक-  
तस्य शम्भु खण्ड शाकपत्रैः, रुप्याणां अलावूना ( लोकी ) पुष्पैश्चेतरेषां, रत्नं  
दादिमानां परिणतया भिदुरैर्दिच्छुक्ते । 'नादाभिदिच्छुदे कुरच्' ( ३-२-१६२ )  
कुक्षिभाजैः, काञ्चन कुष्माण्डीनां ( कुम्हवा ) वल्लरीणां लतानां विकासतैः  
कुसुमैः जानन्ति स्म । श्रोत्रियाणां स्त्रियो रत्नार्दानां परिज्ञानेऽसमर्थाः । सत्यो नगर-  
स्त्रीभ्यः सकाशात्मादृश्येनोपमानप्रमाणेनैतत्पा ज्ञानं कुर्वन्तीत्यर्थः । एतन् राज्ञो  
बहुदानशालत्वं ग्रामस्त्रीणां सुखात्वं च व्यज्यत ॥२३॥

अश्रान्तप्रिश्राणितयज्ञयूपस्तम्भावलीं द्रागवलम्बमाना ॥ २४ ॥

यस्यानुभावार्द्धभुवि सञ्चचार कालक्रमादेकपदोऽपि धर्मः ॥२४॥

अश्रान्तं इति ॥ यस्यानुभावार्द्धकृत्या कालस्य क्रमात्परिवर्तनादेकपदः  
खञ्जः, कलौ युगे त्वेकचरणोऽपि सन्धर्मः भुवि पृथिव्याम् । न श्रान्तं रुद्धमित्य-  
श्रान्तं निरन्तरमात्रं यावत् । विश्राणितं सम्पादितं पुरस्कृतं वा यज्ञस्तस्य  
यूपस्य स्तम्भानामवली पङ्क्तिम् । अवलिशब्दो दीर्घो ह्रस्वो वा । तामेव  
द्रागमार्गवल्बमानां सन सञ्चचाराचरत् । राज्ञो निरन्तरयज्ञसम्पादनं  
सूच्यते ॥२४॥

मेरोराहतवैरिसङ्कुलतटादाहूय यज्वामरान्

यज्वामरान् यज्वत्याम् पुरवासिनामकृतं यः स्वर्गस्य मर्त्तस्य च ।

उत्तुङ्गः सुरसङ्घमिश्रं विततैरतल्लैश्च शेषीकृतं

चक्रं येन परस्परस्य च समं द्यावापृथिव्योर्वपुः ॥२५॥

मेरोरिति ॥ आहता वैरिणस्तैः सङ्कुलं व्याप्तं तदं यस्य नस्मान्मेरोरमरा-  
न्देवानाहूयामां यज्वा विधिर्नष्टवान् स्वर्गस्य मर्त्तस्य च पुरवासिना व्यत्यासं

4

विनिमयः, स्वार्था-वा-यनम् । इह-गा-वीरो-ह-स्व-ग-प्रेषे-त-भा-व । अ-ह-न-  
 च-रा-र । स्व-रि-त-नि-त-क-त्र-भि-म-प्र-ये-क-था-फ-ले ( १३७२ ) इ-रा-व-त-म-न-प-द-म् ।  
 उ-त्त-र-धि-की-न-न-नु-म-मि-द-वा-ल-य-श्च-वि-त-स-व-स्ती-र्ये-स्त-ल-ल-खा-त-स्त-वा-गै-श्च  
 या-न-प्र-थि-म्यो-र-श-व-ह-न-मि-त-व-पु-पर-म-र-स-म-ये-न-रा-ज्ञा-स-म-च-क-क-त-म् ।  
 ख-ान-वि-स्ती-रा-व-रो-व-रा-भू-र-प-त-चे-न-भू-ष-स्व-ग-ह-चो-स-द्र-म-न्दि-रै-र-धि-कृत-ले-न ।  
 पर-म-र-स-म-व-मु-म-यो-ले-न-स-म-भू-वे-ति-भा-व । अ-ने-न-म-म-ल-ो-क-ए-व-स्व-ग-ह-त-  
 इ-ति-व्य-ज-य-ते ॥१५॥

अस्य मन्दिरनिर्मातृमाह—पुनः १००० ३७५०१००

374728

दिशः॥ रामचन्द्राय नमः ॥ गगनतलमहाप्रोधिषु यन्त्रीय  
मानो प्राप्स्यति गन्धिः इति भिल्लद्वयस्तस्य मन्त्राह्वयम् ।  
आलम्ब्य स्वामिनेन त्रिमुखाय नमस्कृत्य प गिरौणा  
म प्रणम्य स्वस्वस्य व्यभिक्त वमुपसीवा सव सौधमुच्चै ॥२६॥

निगिति ॥ दिश एव शक्ति पल (पञ्चा । मूलं काण्ड प्रदाना भागश्च  
यस्य तन् । जगत्कलमेव मह म्भीधि स च स यस्य मध्यं वा तरीम्मु चैस्तमो  
भागश्च । प्राक्पुत्रं च प्रत्यक्षपारचमप्य तत्र योर्डां पर्यंतस्तस्य दिशतौ स्थाने  
मिलित प्राप्यत, तत्स्थान स्पृशतांति क्वचिन् । जगद्वशात्तन् यस्य तयाभूतस्य  
आलो मूरस्य मध्यस्थितौ म य निवेदिति शीतकं शनन् । त्रिमुक्तमेव भजन  
तत्रैकम क्लृप्ताय म्ममस्तम् । गिरीशमेक्येव मैनाकर्तुमि त्र्य । स इवेक्ष्यते  
मगनन्मुदर्यामिन्वा । एवम्भूत प्रमुन्नरकरस्थो च सध प्रापाद मन्दिरं स  
वमुत्तीवामव रूमी शी च यत्त निर्मितवान् । विरूयकम् बाली लुट सिध्यात्मन  
पदाश्च 'स्थापनी' च ( १२—१ ) इतस्त्वे किन्वे ह शान्ति ( ८ — २७ )  
इति सलोप । न्यकमलहार ॥ २६ ॥

प्रासादन तवामुनत्र हरिभक्त्या निरुद्धो मुधा २५५

५५) मानोऽद्यापि कुनोऽस्ति दक्षिणदिश कोणान्ववासी मुनिः ।  
५६) अन्यामुच्छ्वयोऽयमुच्छ्वलु दिश वि शोऽयसी वरुनां  
५७) यावच्छक्ति तथापि नास्य पत्रवी सौघस्य गादि

प्रासादेनेति ॥ हे भानो, मूर्त्य, तव हरितामश्वानामध्वा मार्गोऽमुना  
 प्रासादेनैव निरुद्धो नान्येन केनचिद् विन्ध्यदिना । मुधा व्यर्थमेव मुनिरगस्त्य-  
 स्त्वया दक्षिणस्या दिशः कोणस्यान्ते निकट उषितुं शीलमस्य तथाभूत कृतः ।  
 उद्धतो नष्टः शपथो यस्य स उन्त्रपथः सन्न्यामुत्तरा दिशमृच्छतु गच्छतु । असौ  
 विन्ध्योऽपि यावती शक्तिस्तावन्मात्रं, 'यादवधारणे' ( २-१-८ ) इत्यव्ययीभावः ।  
 चर्द्धताम् । तथापि सौधस्यास्य पदद्वी मार्गं न ग्राहिष्यते प्राप्स्यति । विन्ध्य-  
 किलागस्त्यशिष्योऽनीवोत्तुङ्गं सूर्यस्याध्वानमवस्थादि स्मेत सूर्यप्रार्थितोऽगस्त्यो  
 विन्ध्यसमोपमगात् । विन्ध्यस्त नमस्कृतुं भावे यावन्नमति तावदेवपिणा शपथे  
 दद्धो यदगस्त्यस्य दक्षिणादिश प्रयावर्तनं यावदेष तथैव स्थितः स्यादगस्त्यस्तु  
 दक्षिणतो नाद्यापि प्रत्यावृत्त इति रामायणी कथाऽनुसन्धेया ( ३-११ ) । प्रासादोऽयं  
 विन्ध्यादप्युच्चैस्तर इति भावः । उमानस्य निरस्कारात्प्रतीपमलङ्कार ॥२७॥

५ स्फुटं यदि स्रजयति भूमिचक्रे सुमेरुमृत्पिण्डविवर्त्तनाभिः ।  
 तदा घटः स्यादुपमानमस्मिन्सुवर्णकुम्भस्य तदर्पितस्य ॥२८॥  
 स्फुटेति ॥ यदि घटो भूमरेव चक्रं ( चाक ) तस्मिन्सुमेरुव मृत्पिण्डं  
 तस्य विवर्त्तना सञ्चालनं ताभिः स्रजयति घटमिति शेषः । तदास्मिन्मन्दिरे तेन  
 राज्ञोऽर्पितस्य सुवर्णकुम्भस्योपमानं तथोक्तो घटः स्यात् । अतिशयोक्तिः । यथा  
 च—'पुष्प प्रवालोलहितं यदि स्यात्' ( कुमार० १।४४ ), 'उभौ यदि द्योमिनि  
 पृथक्' ( शि० व० ३।८ ) ॥२८॥

विलेशयविलासिनीमुकुटकोटिरत्नाङ्कुर—  
 स्फुरत्किरणमञ्जरीच्छुरितवारिपूरं पुरः ।  
 चखान पुरवैरिणं स जलनग्नपौराङ्गना—

स्तनैरुपमदसौरभोच्चलितचञ्चरीकं सर ॥२९॥

विलेशयेति । स पुरवैरिणं प्रथमेश्वरस्य पुरोऽग्रे । विले शेरत इति  
 विलेशया सर्पास्तेषां विलासिनीनां पत्नीनां मुकुटेषु कोटिभी रत्नाङ्कुरै रत्नखण्डैः  
 स्फुरन्तः किरणारूतेषां मञ्जरी ताभिश्छुरितमावृत्तवारि तस्य पूरं पूर्णतयास्मिन्स्तन-  
 'भू', 'पु' नर्जरेषु मग्नानां पौराङ्गनानां स्तनपु, एषो मृगविशेषस्तस्य मदः

कस्त्वरीति भाव । तस्य सौरभेषु अवेनोच्चलिता आकृष्टाश्चञ्चरीका यस्मिंस्त-  
थाभूत सरश्चक्षान दानयामयेत्यर्थ ॥२६॥

उच्चित्राणि दिगम्बरस्य वसनान्यद्वाङ्मनास्वामिनो  
रत्नालङ्कृतिभिर्विशेषितेषु पद्मशोभा शतं सुभ्रुव ।  
पौराव्याश्च पुरो मशानवसतेभिर्क्षामुजोऽम्याक्षया  
लक्ष्मी स व्यननोदरिद्रभरणे सुलो हि सेनावय ॥२७॥

उदिति ॥ दिश एवा नरमस्य दिग्भ्यस्तस्य शि र्योच्चिनाश्च वरनानि  
वस्त्राणि व्यतनोतिवान् सम्भव । अर्द्धाङ्गनाया स्वामनोऽद्ध ता श्वरस्य  
शि रस्य (नैरलङ्कृतिभिश्च विशेषता वर्द्धिता वपुषा शरीराणां शोभा यामस्ता-  
मुजो नारी शत व्यतनोत् । मशान वसतिनिगानी यस्य तरय । रेनागरिके  
राक्षस समृद्धा पुरीव्यतनोत् केचित्पुरी भान दनिति कथयता । मित्रा मुनह्वीति  
तस्य शिषस्य हृतेऽध्या लक्ष्मी भिय व्यनोत् । एवं स सेनानमेतद्वाङ्मनाय  
वो वेशो दरिद्राता भरणे पापणे हि सुशस्वदुर ॥२८॥

चित्रसौमेभचमो हन्यविनिहितस्थूलहारो रगेन्द्र

श्रीदण्डक्षोवभस्मा करमिंलतमहानीलरत्नाक्षमाक्ष ।  
वपस्तेनास्य तन गरुडमणिलतागोनस कान्तमुक्ता - A Kuntal

नेपथ्यवस्थिरिच्छासमुच्चितरचन कल्पनापालिकस्य ॥२९॥

चित्रेति ॥ तन राक्षाऽस्य, कल्पे प्रत्ये कपालधारिणो हस्तेऽध्या  
समुच्चिता रचना यस्म स वेषस्तेन सम्पादित । चित्रकारः । चित्र सार्धं  
पद्ममं वर मेघमस्य गजस्य चर्म यस्मिन । शिब सीमं वस्त्रमेव गजचर्म  
मन्यतति भाव । हृदय निनिहित स्थापित स्थूलो हारो सत्त्वमेवोरगाणां  
स्पर्शाभिमग्नो यस्मिन्स । श्रीखरकचन्दनरय क्षोदश्चूरमेव भस्म यस्मिन्स ।  
हर मिलितानि प्राणतानि महानीलरत्ना यथाक्षमाक्ष यस्य स । गरुडमणिलता  
स्तैव गोनस सपविशो यस्मिंस्तथाभूत । वातानां सुशरीणां मुहूर्तिना नपथ्य-  
माभरणमेव नरस्यास्थि यस्मिन्स । एव रिवाजुलतमव वेष सम्पादित ॥ १॥





स्योक्त सदा शिरोभूषणं कलयते रचयति यावन्तथाणा वैशाना सम्राट्स्त्रिवेदी सना  
चेतो नम इवेतिमान धननव गमयति धनलयनीत्यथ । तावतासा तयोह्यना  
मखी मित्रमस्य कीर्तिरपि तत्तमेव वस्तु रचयतु । पावयतु शोभा वद्धंयु, प्रकाश  
अरिबति भाव ॥३४॥

निर्णिक्तसनकुनभूपतिमौक्तिकाना—

मात्रन्यिलप्रथनपदमलसूत्रवल्लि ।

एषा कवे पदपदार्थविचारशुद्ध —

बुद्धेदमापतिधरस्य कृति प्रशस्ति ॥३५॥

निर्णिक्तेति ॥ निर्णिक्ता स्वच्छास्व ते मेनकुलस्य भूपतय एव मौक्तिकानि  
तेषाम् । अत्रान्यिल निर्प्रति सरल च तदप्रथन काव्यरचना तेष पदमल, नयनयो  
पदमेव बुद्धर सूत्र तस्य वल्लिलना तद्रूपणा प्रशस्ति पदस्य पदार्थस्य च विचा  
रेण शुद्धा बुद्धियस्य तस्य कदमापतिधरस्य कृति ॥३५॥

धर्मप्रणप्ता मनसासनेन बृहस्पते सूत्रुरिमा प्रशस्तिम् ।

चक्षान बारद्रुशिलिफोण्ठीचूडामणी राणकशूलपाणि । ३६॥

धर्मेति ॥ धर्मस्य प्रणप्ता प्रपौत्रो मनसासनेन बृहस्पते सूत्रु पुत्रो वारेन्द्र  
कस्योत्तरवज्रस्य शिलिफना गोण्ठीना सभामा चूडामणि रव राणकशूलपाणिर्नाम खनक  
इमा प्रशस्ति चक्षान । ३६॥

॥ इति शालासिमात्रसर्वप्रसादस्यैककर्मकाण्डकल्पशास्त्रेण पौत्रेश चण्डी  
प्रसादस्यानुष्मबद्ध प्रशस्तिरतिन पुण्यपीते द्यातेन बालकविनोमाशङ्केश रक्षिनेय  
विजयवेनप्रशस्तिवशाख्या प्रभाषया समाप्तमगाम् ॥

## हिन्दी-अनुवाद

ॐ ॐ शिव का नमस्कार । [ अरुणो ] उन्नीस पर एक दशम पर,  
 दर के कारण खोली गई मित्र का मान का दया, रत्नगुह के दायक को उपाय  
 को मन्त्र करनेवाला देवी के मुँह को देवहर, जो ( मुह ) चन्द्रमा के प्रकाश के  
 कारण लज्जा में सुगम गया था, शिव के रूप हुआ ( पौर्वा ) सुँह की जय  
 दो ॥१॥ जो लक्ष्मणपति ( विष्णु ) श्री उमापति ( शिव ) के एक होने का  
 लालागुह है, उस 'प्रद्युम्नश्वर' जन्म में अभिहित भवन को [ हम ] प्रणाम करते  
 हैं । जहाँ आतिथ्य लूट जान के भय में दोनों प्रियतमों के बीच बैठकर, दोनों  
 देवियों ने [ कम-से-कम ] उन (हरि हर ) का अभिन्न शरीर विमानवाली आला  
 में तो [ उनके एकरूप में ] रुकावट डाल दो ॥२॥

अमृत की किर्णोवात ( चन्द्र ) प्रथमगजा की जय दो, गज का मुताला  
 जटायुमूह ही जिसका निद्रामन है, ग ॥ के जलरुण की मजरी के मूह में चिम  
 नवर दुलांत है तथा उजले और कैंने हुए फण के अचल ने युक्त, शिव के शिर पर  
 रिस करनेवाला, ज्योतिग्या-मा मीप ही जिसका छत्र है ॥३॥ दवागनाओं की  
 तगातार रति कीड़ा की मात्मी देनेवाने ( स्वर्गीय) उस [ राज ] के धरा में,  
 दाक्षिणात्य के नरेश तथा चारों तरफ कीर्तिवाले वीरसेनादि हुए, जिनके चरित्र  
 के स्मरण से परिचित होने के कारण पवित्र, नृकि ररी मनु को धारयें, व्यास ने,  
 अक्षर के कानों में डेकर प्रथम करने के लिए बढ़ाई' । ४॥

उस सेनवश में, संरुद्ध विराधी वीरों के नाशनी कीर्ति का प्रकाशक ( या  
 नागह और ब्रह्मविचारक ), ब्रह्मब्रिय कुन का शिरोमणि सामन्तसेन हुआ जिसके  
 युद्ध की कथाएँ, उद्यन हुए समुद्र-जल की चंचलता में शीतल, सेतुबन्ध

( रामेश्वर ) के किनारों पर, अप्सरायें श्रीरामचन्द्र की स्पर्शा से जाती हैं ॥५१॥  
जिस रणागन में जोर जोर से आवाज करनेवाले ढंके से बुलाये गये शत्रुवर्ग पर,  
उमने [ आपन ] हाथों से तलवार-रूपी सुन्दर सौंघ को खेला वह ( आँगन )  
आज भी शत्रुओं के विच्छिन्न ( तितर-बितर ) हुए हाथियों के मुँह के चिरे हुए  
फणोका में निकले जाती-रूपी बड़ी-बड़ी कौबियों के समूह से भरा हुआ है ॥५॥  
शत्रुओं का सुन्दार्यों के प्रयाण के पीछे लगा हुआ उसका यश एक घर से दूसरे  
घर में पहुँचा नगर नगर में चलन लगा, धन-बनमं डोलन लगा, वृद्ध बूढ़ तक  
धूम गया पहाड़-पहाड़ पर ठहरा तथा एक समुद्र से दूसरे में तैरने लगा ॥७॥  
विष्णु ने समान वीर उस ( सामन्तपुत्र ) ने शत्रुकुल से ढंकी कण्टिका शय की,  
लक्ष्मी ने दुर्गावारी लुटरी का ऐसा निनाश किया कि प्रेता के स्वामी ( यम ) प्रजा  
को प्रसन्न करके, आज भी, अलख वसा मास और चर्वा की सुविधावाली दक्षिण  
दिशा को नहीं छोड़ते ॥८॥ जिसने अपने अन्तिम अवस्था में गया के किनारों  
पर के जलो में स्थित उन पुण्यशब्द आश्रमों में निवास किया था जो भी के धुएँ से  
सुगन्धित थे, जहाँ हरिण के बच्चों के द्वारा अपने स्तन का दूध पिये जाने पर भी  
तपस्विन्या की स्त्रियाँ प्रसन्न रहती थीं, जहाँ अपने वेदपाठ से परिचित थे और  
पुनर्जन्म के भय से स्तिन परित्याजक जिनके बीच में अरे रहते थे ॥९॥

अद्वितीय परमात्मा के ज्ञान में नीष्पतुल्य उस ( सामन्तसेन ) से हेमन्तसेन  
हुआ जो अपने मुजबल से मतवाले बन हुए शत्रुओं को मारनेवाला वीर था तथा  
अनन्त स्पष्ट और निमल प्रत्येक गुण-समूह की महिमा का घर था ॥१॥ ॥ सिर  
पर अर्धेन्दु की चूड़ाभूषण बनानेवाले ( शिव ) की चरण चूली कंठ-रूपी दीवाल में  
सत्यवती, कान में शारंगवाक्य, चरणभूमि में शत्रुओं के केश, भुजाओं में कठोर  
घट्टन की रस्ती का अर्ध-नह—सदैव इस प्रकार के ही जिसके आभूषण हुए,  
रत्नपुष्प द्वार कणकुल नूपुर, लोचन का वंगम—ये तो उसकी दाम्पत्य पहनती  
थी ॥११॥ जिसकी भुजावली लताओं के विलास से चञ्चलवाले शस्त्रों से छाती  
फाटे जानपर रणरूपी तीर्थ के वैभव से निम्न शरीर धारण करनेवाले वीर की  
छाती की, लिपटी हुई देवायनाओं के स्तन पर की कु कुम-रक्षा से युक्त होन पर  
भी, भील जिंदों के जोर, उसे पहले के समान ही भयभीत होकर दखते थे ॥१२॥

रविर्कीर्तिकृत  
**ऐहोलशिलालेख**

( Aihole Inscription of Pulikesin II

( सानुवाद )

प्रो० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि'

संस्कृत-विभाग

पटना कॉलेज, पटना

प्रथम संस्करण

१९६०

प्रकाशक

प० पण्डी प्रसाद शर्मा

प्रा० + पो०—पोन्डिल

मण्डल—गया

---

पम० प० की पाठ्य-पुस्तक

---

जुलाई—१९६०

मुद्रक

स्पार्क प्रेस प्रा० लि०, पटना—१

# भूमिका

आज पाठकों के समक्ष शिलालेखमाला के तृतीय-पुष्परूप में ऐहोलशिलालेख को रखने हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। न केवल एम० ए० (संस्कृत तथा प्रत्न भारतीय इतिहास) के छात्रों के लिए, अपितु साहित्य और इतिहास के सामान्य पाठकों के लिए भी यह लेख बड़ा महत्वपूर्ण है। एक तो शिलालेखों की पुस्तकें सम्प्रति दुर्लभ हो ही गई हैं, दूसरे, हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने पर भी अभी तक विद्वानों का ध्यान शिलालेखों को हिन्दी में लाने की ओर नहीं गया है। हर्ष का विषय है कि श्रीजयचन्द्रविद्यालका-जैसे इतिहास के अधिकारी-विद्वान् ने 'उत्कीर्णलेखाञ्जलि' में पाँच संस्कृत-प्रशस्तियों को हिन्दी में लाने का स्तुत्य-प्रयास किया है। हिन्दी की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए हमें इस ओर जोर-शोर से लग जाना होगा।

प्रभुत-शिलालेख रामम-शती के दक्षिण-भारत के राजनैतिक इतिहास पर बहुत अधिक प्रकाश डालता है। इस दृष्टि से इसका वही महत्त्व है जो उत्तर-भारत के लिए समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भलेख का। यह लेख बम्बई राज्य के बीजापुर-जिले में ऐहोल नामक स्थान में मेगुती नाम के एक जैन मन्दिर में मिला है। पाषाण के फलक पर इसमें १६ पंक्तियों खुदी हुई हैं। डाक्टर फ्लीट ने इंडियन एंथिक्वेरी के १६७ तथा ८१२३७ में इसे दो बार सम्पादित किया था। पुनः कीलहार्न ने एपिग्राफिया इंडिका के १७ भाग के आरम्भ में इसे प्रकाशित कराया।

यद्यपि हम लेख में जैनमन्दिर के निर्माण का ही उल्लेख प्रधान है किन्तु अपने राजा सत्याश्रय तथा उसके वंश का भी सुन्दर वर्णन इसमें किया गया है। मुनिधा के लिए इसकी विषय-वस्तु को हम विभक्त कर सकते हैं—

- (१) चिनेन्द्र को नमस्कार, (२) चालुक्य-वंश (३) सत्याश्रय (पुलिकेशी

द्वितीय) मन्दिरकार का सरस्वत (४) जयसिंह बल्लभ (५) उसका पुत्र  
 रणराग ( ) उसका पुत्र पुलकेशी (प्रथम) जिमन वातापि (आधुनिक  
 बादामि) म रावधानी बनाई, (७) उसका पुत्र कीर्तिवमा नल-भार्य-कदम्ब  
 का विजेता (८) उसका अनुज मगलेश कट-कुरि और रेवती द्वीप का  
 विजेता (९) पुलकेशी (द्वितीय) —राज्य को भावा से छीनना आध्यात्मिक  
 और गोविन्द पर विजय बनवासी पर घेरा गग अलूप मौस्य विजय  
 पश्चिम समुद्र की पुरी पर घेरा साट मालव, गुर्जर को अधीन करना  
हर्षवर्धन को रोकना नर्मदा के किनारे सैनिक केन्द्र ६६ हजार गाँवा बाले  
 महाराष्ट्र की विजय, कलिंग कोसल विजय पिष्टपुर का मिला और कृष्णाल  
 द्वीप को लेना बोधी के परल्लो की हराना चोल विजय (१०) सत्याश्रय  
 के शासन-काल में ५२६ शक-संवत् (९३४ ई०) में जित-मन्दिर का  
रविकीर्ति के द्वारा निर्माण (११) रविकीर्ति की बनाई हुई प्रशस्ति कविता  
 में कालिदास और भारवि के समान ।

**इतिहास—**प्रस्तुत शिलालेख चालुक्य-वंश के प्रधान राजा पुलकेशी  
द्वितीय के वीर कार्यों का वर्णन करता है । उसका कुसरा नाम सत्याश्रय  
 भी था । सत्याश्रय प्रायः समस्त दक्षिण भारत का राजा था । ठीक इसी  
 समय हर्षवर्धन भी समस्त उत्तर भारत का राजा था । उसका भी उल्लेख  
 इस लेख में है । इस लेख का समय ५२६ शक-संवत् अर्थात् ६३४ ई० है ।  
 हर्षवर्धन ६६ से ६४७ ई० तक राज्य किया । चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने  
 इसी के राज्यकाल में समस्त भारत का परिभ्रमण किया था । वह ४१ ई०  
 म बादामी (वातापी चालुक्यों की राजधानी) भी गया था । अतएव इस  
 लेख की छान्नाओ की तुलना उर चीनी यात्री के वर्णन से भी की जाती है ।

चालुक्यवंश में उत्पन्न प्रथम दो राजाओ—जयसिंह और रणराग  
 की कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती । रणराग के पुत्र पुलकेशी (प्रथम) ने  
इन्दुनाथि पुरी से आकर वातापि में अपनी राजधानी किसी कदम्ब राजा  
 (सम्भरत हरिनाथ) को हराकर प्रायः ८५ ई० में बनाई । इससे अस्वमघ-

यज्ञ किया था, दूसरे शिलालेखों में इसके द्वारा कई यज्ञ किये जाने का बर्णन है जैसे—अग्निष्टोम, अग्निवष, वाजपेय, बहुसुवर्ण तथा पौरुडरीक ।

उसके पुत्र कीर्तिवर्मा ने प्राय ५६७ ई० में राजा होकर नल, मौर्य और कदम्ब-राजाओं को हराया । नल राजाओं के दो लेख मिले हैं—एक तो जयपुर के पास पोदागढ पहाड़ी में जिसमें नलों को कलिग का राजा कहा है । संभव है कि चालुक्यों के राज्य-विरतार से ये भाग गये हों । दूसरे रीठपुर के ताम्र लेख (मध्यप्रदेश) से मालूम होता है कि वहाँ भी इनका राज्य था । मौर्य लोग उत्तरी कोंकण के राजा थे । कदम्ब लोग बेलागोव तथा धरवार जिले में पश्चिमी भाग के और कनारा के राजा थे । कीर्तिवर्मा ने कृष्णवर्मा (द्वितीय) को हराया होगा । अपने अनुज मंगलेश की प्रेरणा से इसने कई मन्दिर भी बनवाये थे ।

मंगलेश प्राय ५६७ ई० में राजा हुआ । रेवती द्वीप (आधुनिक रेदि) को इसने जीता तथा कलचुरी-राजा (बुद्धराज) को परास्त किया । बुद्धराज चूँकि गुर्जर और मालवा का राजा था अतः मंगलेश ने उन देशों पर भी आक्रमण किया था । इसने अपने पुत्र को राज्य देने का प्रयास किया था । किन्तु पुलकेशी के सामने सफल न हो सक्ता (श्लोक १४-१५) । पुलकेशी इस वंश का सबसे बड़ा राजा हुआ किन्तु मंगलेश की मृत्यु के बाद राज्य की स्थिति को डगमग देखकर गोविन्द और आप्पायिक ने भीमा नदी के उत्तरवर्ती क्षेत्र पर आक्रमण किया । पुलकेशी ने ऐसा प्रत्याक्रमण किया कि गोविन्द ने तो सन्धि कर ली और आप्पायिक हार गया । इसके बाद पुलकेशी ने वरदा नदी के किनारे के वनवासी किले को ले लिया । यह उत्तर कनारा में है तथा कदम्बों की राजधानी यही थी । यहाँ उसने भोगिवर्मा के पुत्र विष्णुवर्मा को हराया होगा । पुनः उसने गग और अलुप को हराया था । गग-जाति मैसूर के गगवाडी में राज्य करती थी । पुलकेशी ने शायद गगराजा दुर्विनीत को हराया था । वह विद्वान् भी था और उसने ६०५ से ६५० ई० तक राज्य किया था । अलुप जाति मालवार की नाग जाति की एक शाखा थी । उत्तरी कोंकण के मौर्य लोग सम्भवतः



मगधेश की मृत्यु के बाद स्वतंत्र हो गये थे उन्हें पुलकेशी ने फिर हराया । मौर्वी की राजधानी पुरी में ही होगी । छोट मालव और गुजरात पर भी उसने बढ़ाई की थी ।

पुलकेशी का सबसे बड़ा काम था हर्षवर्धन को नर्मदा किनारे रोकना । इस घटना का वर्णन हेनस्तामन में भी मिला है । पुलकेशी के उपराधिनारियों ने अपने शिलालेखों में इसका अतिरंजन कर दिया है तथा कहा है कि उस घटना के बाद पुलकेशी ने परमेश्वर की उपाधि ली थी । उसने नर्मदा के किनारे एक बड़ी सेना रख छोड़ी थी जो विदेशियों को रोक सके । महाराष्ट्र के तीन देशों को भी उसने जीता । उसके बाद कोमल तथा बलिग देशों की भी विजय पाई । कोसल तो महानदी और गोमती के बीच का मध्यप्रदेश था तथा बलिग उत्कल का दक्षिणी भाग था जिसकी मर्खालंगम् राजधानी थी । कुणाल द्वीप को लेकर उसने कौन्ती के पन्तब—भवेन्द्रवर्मा—को हराया था । अंत में नावेरी पार करके वह चोल केरल और पाण्ड्यों से मिला । इस प्रकार यह शिलालेख इतिहास के एक गूढ़ पृष्ठ का उनावरण करता है ।

**साहित्यिक महत्त्व**—न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्युत साहित्यिक दृष्टि से भी यह शिलालेख समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भलेख के समान ही महत्त्वपूर्ण है । स्तम्भ के दो महाकवियों—कालिदास और भारवि—के नामोल्लेख से इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है । इन दोनों के काल की अन्तिम-सीमा इसी शिलालेख से मालूम पड़ती है । सन् ६१४ ई तक ये बहुत प्रसिद्ध हो गये थे । रविवीरिण का यह कथन कि उसने कालिदास और भारवि की कविता पा ली है, बिल्कुल अतिशयोक्ति है । स्तम्भ यह संस्कृत के कवियों की पंक्ति में रखने योग्य है ।

हर्ष-चरित में कहे गये 'उत्तमोऽद्या दक्षिणात्येषु' के अनुसार वह वास्तविक दक्षिणात्य है । उसकी उत्तरेक्षामें बहुत अमकारक हैं यद्यपि प्रायः सभी दूसरे कवियों से ली हुई हैं । कालिदास का उभाव रवि-

कीर्ति में गटक्ता है। किन्तु इसमें उसके अगाव अध्ययन का मली-भाति पवित्र्य मिनता है। अलंकारशास्त्र के सभी नियमों को वह अच्छी तरह जानता है। कुल ३७ पद्यों में ही उसने १७ छन्दों का प्रयोग किया है जो छोटे-बड़े कई प्रकार के हैं। देवपाटा शिलालेख में भी ऐसा ही वर्णन है किन्तु उसके छन्द बड़े-बड़े हैं तथा सभी पठनीय, जबकि प्रस्तुत लेख में आर्या (१, २, ३, ४, ५) और आर्यागीति (३७) जैसे विचित्र छन्द भी हैं। छन्दों की विभिन्नता से राजाओं के परिवर्तन तथा उनकी विभिन्न कृतियों की सूचना स्पष्ट होती है।

भौगोलिक और ऐतिहासिक नामों से यह शिलालेख भरा पड़ा है जिसने काव्य-प्रवाह रुक जाता है और हमें वैज्ञानिक अनुमान करता पड़ता है। इस विचार से देवपाटा शिलालेख कहीं अच्छा है जिसके प्रत्येक श्लोक में उक्ति-वैचित्र्य भरा पड़ा है। इस लेख में भी चमत्कार है किन्तु दया दिया गया है। सौन्दर्य की दृष्टि से श्लोक-संख्या १०, १२, १६, १७, १८, २१ तथा २८ का विशेष मनन करें। इनमें अन्तिम वाला देखें—कुनाल भील के पास हाथियों का समूह खड़ा है, घायल मनुष्यों के रक्त से जल लाल हो रहा है, मालूम होता है कि बादलों से भरा हुआ आकाश हो और उसमें संख्या की लाली छिटकी हुई है। कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है। रघुवंश में भी कुश किराती से ऐसा ही कहते हैं—

पश्यावरोधे शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलितांगरागैः।

सन्व्योदयः साभ्र इवैष वण<sup>१</sup> पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः॥ (१६।५८)

इसी प्रकार अपनी उत्प्रेक्षाओं में वह पूर्वकवियों का, विशेषतया कालिदास और भारवि का ऋणी है। डा० कीलहॉर्न ने ऐसे स्थलों की पूर्ण सूची दी है। हम इनमें मुख्य स्थानों को देखें—श्लोक १—कि० ५।२२ बीतजन्मजरसा, ५ नृत्यदुभीमकवन्ध—२० ७।४८ नृत्यत्कवन्धं समरे वदर्श, १० पृथुकदम्बकदम्ब—कि० ५।६ पृथुकदम्बकदम्ब, १८ हंसावली-मेखला—कि० ४।७ तत म कूजत्कलहसमेखला, २१ जलनिधिरिव व्योम—

र ४।२६ पुस्तकमित्र व्योम उवन् व्योमेव मननम् । इस प्रकार शब्दापहरण और अर्थापहरण कइ स्थान ह ।

शालाहारा का प्रेम रविनील में बहुत है । यमक अनुप्रासादि का प्रचुर प्रयोग हुआ है । ये ग्राम प्रत्यक्ष पश्य म ह । मायुध-गण म १-व स्तोत्र का अपना ही रचान है । अथानगराम प्रशाननया रूपक उपमा और उत्प्रेक्षा ह जिन्ह अनुवाद के माय लगा ल्या ह । रविनीति जपन की भारवि और कानिदास कह ल किन्तु न तो उमम भारवि का अनामिक अर्ध-गाम्भीर्य है और न कालानाम की अनुपम उपमाय ।

इस पुस्तक की रचना में मन लसकर की पुस्तक (Selections from Sanskrit Inscriptions) से सर्वाधिक सहायता ली है । दुब्रील (Dubreuil History of Deccan) तथा जार डी बनर्जी की कृतियों का उपयोग भी यथास्थान किया गया है । इनका भी पूर्ण कृतक हूँ । पटना कालेज के अपने सहयोगियों तथा स्नातकोत्तर विभाग के अपने छात्रों का भी मैं आभारी रहूँगा जिनसे प्रेरणा से निरन्तर बढ़ रहा हूँ । शिलालेखों के साहित्यिक अध्ययन के लिए मैं अपनी अगली कृति (A Literary Study of Sanskrit Inscriptions) शीघ्र ही आपके सम्मुख रखूँगा ।

मुलसी जयन्ती २०१७

निवेदक—

उमाशङ्करशर्मा ऋषि'

## ऐहोलशिलालेखः

जयति भगवाविजनेन्द्रो वीतजरामरणजन्मनो यस्य ।

ज्ञानसमुद्रान्तर्गतमखिल जगदन्तरीपमिव ॥ १ ॥

भगवान् जिनेन्द्र की जय हो, जो बुढ़ापा, मृत्यु और जन्म से रहित हैं तथा जिनके ज्ञानरूपी समुद्र के भीतर सारा ससार द्वीप के समान है ।

( रूपक, उपमा ) ॥१॥

तदनु चिरमपरिमेयश्चलुक्यकुलविपुलजलनिधिर्जयति ।

पृथिवीमौलिललाम्नां य प्रभव पुरुपरत्नानाम् ॥ २ ॥

शूरे विदुषि च विभजन्दानं मानं च युगपदेकत्र ।

अविहितयाथासंख्यो जयति च सत्याश्रय सुचिरम ॥ ३ ॥

उसके बाद चलुक्य-वंश-रूपी विशाल और अपरिमित समुद्र की सदा जय हो, जो पृथ्वी के सिर पर अलंकार के रूप में सुशोभित पुरुषरूपी रत्नों का उत्पत्ति-स्थान है । ( रूपक ) ॥२॥ वीर और विद्वान् किसी एक पर, एक साथ ही, दान और सम्मान प्रदान करनेवाले सत्याश्रय (पुलिकेशी द्वितीय) की भी सदा जय हो, जो संख्या के क्रम (यथासंख्य) को नहीं मानता । [ 'यथासंख्यमनुदेश समानाम्' । पा० सू० १।३।१० ) के अनुसार वीर और विद्वान् को क्रमशः दान और सम्मान करना चाहिये किन्तु सत्याश्रय दोनों में किसी एक को भी दोनों चीजें दे देता था । यथासंख्य एक अलंकार भी है जिसमें भी यही बात रहती है । अतः दोनों प्रकार के यथासंख्यों का उल्लेखन वह करता था ] ॥३॥

पृथिवीवल्लभशब्दे येपाम वधता निर नात ।

तद्व शपु जिगीषुषु तपु बहुगतातपु ॥ ४ ॥

नानाहेतिशताभिघातपवितभ्राताचपत्तिद्विपे

नृत्यदूभीमकग्रन्धखड्गभिरणवालासहस्रे रणे ।

लक्ष्मीभाभितचापलाऽपि च कृता शौर्येण येनात्मसान्

राजासीज्जयसिंहवल्लभ इति रथातरचलुक्मयाचय ॥ ५ ॥

जिनके लिए पृथ्वीपति शब्द (उपाधि) सदा सार्थक होता रहा उसके वश में उत्पन्न ऐसे बहुत-से विजयेच्छु राजाभा के समाप्त हो जाने पर—॥४॥ विख्यात चलुक्म-वंशी राजा जयसिंहवल्लभ हुआ जिसने चंचलता दिधानवाली लक्ष्मी को भी अपनी वीरता से रण में अपने अधीन कर लिया; उस रण में नाना प्रकार के सैन्धव शस्त्रों (हेति) के प्रहार से गिरकर घोड़े पदल और हाथी खँप रहे थे तथा जिसमें हजारों मयङ्कर घड़े (कम्प) और तलवार की किरणों की ज्वालाय नाच रही थी ॥४॥

तदात्मजोऽभूद्रणरागनामा दिव्यानुभावो जगदेकनाथ ।  
अमानुपत्वं किल यस्य लोक सुप्तस्य जानाति वपु प्रकर्षात् ॥ ६ ॥

उसका पुत्र रणराग नाम का था जो दिव्य महिमायुक्त तथा ससार का एकमात्र स्वामी था सो जाने पर जिसके जलौकिक व्यक्तित्व को ससार उसके शरीर के उत्कर्ष से ही समझता था [ यदि रणराग देवता है तो उसे देवताओं के समान ही ओंखे बन्द नहीं करनी चाहिये निन्तु निद्रावस्था में तो वह ओंख बन्द करता ही था ऐसी दशा में उसका देवत्व शरीर के उत्कर्ष से समझते थे ] ॥ ६ ॥

तस्याभवत्तनूज पोलेकेशी य श्रिते दुकान्तिरपि ।

श्रीवल्लभोऽप्ययासीद् वातापिपुरीवधूवरताम् ॥ ७ ॥

यत्त्रिवर्गपदवीमहां शिवौ नानुग सुभधुनाऽपि राजकुम् ।

भूरच येन हयमवयाजिना प्रापितावसृथमज्जन्मवभौ ॥ ८ ॥

उसका पुत्र पोलेक्सी हुआ जो चन्द्रमा की शोभा ( या इन्दुमग्नि नाम की नगरी ) को धारण करने पर भी तथा श्रीवल्गम [ नामकी उपाधि लेने ] पर भी ( अर्थात् दो पत्नियों को होन पर भी ) वातापिपुरी (आधुनिक वदामी) रूपी वधू का वर हो गया । ( विरोधाभास ) ॥७॥ त्रिमक त्रिवर्ग ( धर्म, अर्थ, काम ) के मार्ग का अनुकरण करने में आज भी पृथ्वी में कोई राजा समर्थ नहीं । अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले उस राजा ने जब पृथ्वी को अवशृथ ( यज्ञसमाप्ति का ) स्नान कराया तो वह चमकने लगी ॥८॥

नलमौर्यैकदम्बकालरात्रिस्तनयस्तस्य बभूव कीर्तिवर्मा ।

परदारनिवृत्तचित्तवृत्तेरपि धीर्यस्य रिपुश्रियाऽनुकृष्टा ॥९॥

रणपराक्रमलब्धजयश्रिया सपदि येन विरुग्णमशेषतः ।

नृपतिगन्धगजेन महौजसा पृथुकदम्बकदम्बकदम्बकम् ॥१०॥

उसका पुत्र कीर्तिवर्मा हुआ जो नल, मौर्य और कदम्ब जातियों के लिए प्रलय की रात्रि ही था, परस्त्रियों से अपनी मनोवृत्ति को अलग रखने पर भी उसकी बुद्धि शत्रुओं की लक्ष्मी ( धन ) में अनुरक्त थी ( रूपक, विरोधाभास ) ॥९॥ युद्ध में पराक्रम दिखाकर जिसने विजयश्री पाई थी, उस गन्ध-गज ( जिस हाथी का मद सुगन्धित होता है ) रूपी राजा ने शीघ्र अपनी बड़ी शक्ति से कदम्बजाति-रूपी विशाल कदम्बवृक्षों के समूह (कदम्ब) का समूल उच्छेद कर दिया ( रूपक ) ॥१०॥

तस्मिन्सुरेश्वरविभूतिगताभिलाषे

राजाऽभवत्तदनुज. किल मङ्गलेश ।

यः पूर्वपश्चिमसमुद्रतटोपिताश्व—

सेनारजःपटविनिर्मितदिग्वितान ॥११॥

उस राजा ने जब देवराज इन्द्र की विभूति पाने की इच्छा की (मर गया) तब उसका छोटा भाई मंगलेश राजा हुआ जिसने पूर्व और पश्चिम समुद्र के किनारे ठहरे हुए घुड़सवारों की सेना की धूल-रूपी वस्त्र से ही दिशाओं

का वितान (tent) खस कर लिया था (उसके राज्य की सीमा पूर्व और पश्चिम सागर तक थी) ॥११॥

स्फुल्लयूगैरसदीपिकाशतै व्युत्स्य मातङ्गतमिस्रसञ्चयम् ।

अवाप्तवान् यो रणरङ्गमन्दिरे कटन्दुरिश्रीललनापरिमहम् ॥१२॥

११ निम रात्रि न चनस्त्री १२ मिश्रणागले गदग रूपी सस्त्र १३ के राहारे, शाव १४ की जगदरगम १५ हाकर रणरङ्ग रूपी घर म कटन्दुरि-राज्य की लक्ष्मी रूपी कन्या म (पाणि) ग्रहण किया था (रूपक) ॥१२॥

पुनरपि च जिघृक्षोस्सेन्यमाप्ता तसाल्ल

रुचिरघट्टपताक रेवतीद्वीपमाशु ।

सपत्ति महदुदन्वत्तोयसफा तविन्व

वरण्यलोमिवाभूदगर्तं यस्य वाचा ॥ १३॥

आर उसके बाद जब उसने रेवती-द्वीप को शीघ्र लेने की इच्छा की तब उसकी वह विशाल सेना जिसने [द्वीप के] प्राचीरों (दीवारों) पर घटाई कर दी थी तथा बहुत सी जड़ों की पताकाओं से युक्त थी समुद्र के जल में दिखालाई पड़नेवाली छवि से युक्त वरण्य की सेना के समान उसकी आज्ञा से शीघ्र ही चली आई ॥१३॥

तस्याग्रजस्य सनये नहुषानुभावे

लक्ष्म्या किलाभिलपिते पुलिकेशिनाग्नि ।

सासूयमात्मनि मयन्तमत पितृव्य

धात्वापरद्वचरितज्यवसायबुद्धौ ॥ १४ ॥

स यदुपचितमन्त्रोत्साहशक्तिप्रयोग—

रुपितबलविशेषो महगलेश समन्तात् ।

रयत्तनयगतराज्यारम्भयत्नेन साद

निजमतनु च राज्य जीवित शोभति स्म ॥ १५ ॥

उसके बड़े भाई के पुलिकेशी नामक पुत्र ने, जो राजा नहुष के समान प्रतापी था तथा लक्ष्मी जिसे [ राजा बनाना ] चाहती थी, अपने चाचा ( मंगलेश ) को अपने ऊपर ड़ेर्या करते हुए तथा उसे हटाने के कार्य में ( अपरुद्ध-चरिते ) स्थिर संकल्प किये हुए जाना और— ॥ १४ ॥ उस मंगलेश ने ही, जिसका बड़ा बल उस ( पुलिकेशी ) के द्वारा मंशहीत मंत्रशक्ति और उत्साहशक्ति के प्रयोग से क्षीण कर दिया गया, अपने पुत्र के राज्याभिषेक करने के प्रयास के साथ-साथ ही, अपने विशाल राज्य और जीवन को भी त्याग दिया । ( राजा की तीन शक्तियों हैं—प्रभु, मन्त्र और उत्साह ) राजा न होने से पुलिकेशी को प्रभुशक्ति नहीं थी मन्त्र ( Counsel ) और उत्साह ( energy ) से ही उसने मंगलेश का बल क्षीण कर दिया था ॥ १५ ॥

तावत्तच्छत्रभङ्गे जगद्विलमरात्यन्धकारीपरुद्धं

यस्यासह्यप्रतापद्यु तिततिभिरिवाक्रान्तमासीत्प्रभातम् !

नृत्यद्विद्युत्पताकैः प्रजविनि मरुति क्षुरणपर्यन्तभागै—

गर्जद्भिर्वारिवाहैरलिकुलमलिन व्योम यातं कदा वा ? ॥१६॥

जैसे ही उस ( मंगलेश ) का प्रभुत्व नष्ट हुआ कि अन्धकार से ढँके हुए समूचे ससार में प्रभात हो गया मानों उस ( पुलिकेशी ) के असह्य बल के ज्योति पुंज से आक्रान्त हो गया हो । केगवान् वायु के [ बहने पर ], नाचती हुई बिजली-रूपी पताकाओं से युक्त तथा जिनके किनारे के भाग नष्ट हो गये हैं, ऐसे गरजनेवाले मेघों से, आकाश कबतक ध्रमर-समूह के समान मलिन रह सकता है ? ॥ १६ ॥

लब्ध्वा काल भुवमुपगते जेतुमाप्तायिकास्ये

गोविन्दे च द्विरदनिकरेरुत्तरा भैमरथ्या ।

अस्यानीकैर्युधि भयरसङ्गत्वमेक प्रयात—

रतत्रावाप्तं फलमुपकृतस्यापरेणापि सद्यः ॥१७॥



अबसर पारर अमरथी ( आधुनिक भीमाननी ) के उत्तर की भूमि को जीतने के लिए हाथिया के साथ गये हुए जापाथ और गोविन्द में एक ने तो उमरी सेना के द्वारा युद्ध में भय का रस जान लिया (= भाग गया ) और दूसरे ने भी शीघ्र ही बहा उपकार ( पुलिकशी की दया या गोविन्द द्वारा की गई सेवा ) का फल पा लिया अर्थात् सन्धि कर ली ( पर्यायोक्ति ) ॥ १७ ॥

✓ वरदासुङ्गतरङ्गरङ्गविलसद्गङ्गावलीमेखला

वनवासीमयमृद्नत सुरपुरप्रस्पर्धिनी सम्पत्ता ।

महता यस्य बलार्णवेन परितः सञ्चालितोर्वातलं

स्थलदुर्गं जलदुर्गतामिव गतं तत्तत्क्षणे पर्यताम् ॥ १८ ॥

अपनी सम्पत्ति से इन्द्रपुरी की स्पर्धा करनेवाली वनवासी-पुरी का महान जय बह कर रहा था जो ( पुरी ) मेखला के रूप में वरदा नदी की ऊँची तरंग रूपी रगमंच पर विराज करनेवाले हस्त की पवित्र धारणा किये हुए थी तब बहा का स्थलदुर्ग जिसका घरातल उस ( राजा ) के विशाल सन्ध-समुद्र से चारों ओर घिरा हुआ था देखनेवालों के लिए शीघ्र ही जलदुर्ग के रूप में परिणत हो गया ( उत्प्रेक्षा ) ॥ १८ ॥

गङ्गालुपेन्द्रा व्यसनानि सप्त हित्वा पुरोपाजितसम्पदोऽपि ।

यस्यानुभावोपाता सदासन्नासन्नसेवामृतपानशौर्यदा ॥ १९ ॥

• कोङ्कणेषु यदादिष्टचण्डयैर्द्वौमुवीचिमि ।

सदस्तास्तरसा मौर्यपल्वलाभुसमृद्धय ॥ २० ॥

गङ्गा और अल्लुप के राजाओं ने सात व्यसनों को छोड़कर पहले सम्पत्ति अर्जित की थी फिर भी उसकी महिमा से अवनत होकर उसके समीप रहकर सेवा-रूपी अमृत का पान करके मतवाले हो गये थे ( सात व्यसन—शूतं मांसं सुरावेश्याखेटयौपराधना । महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेत् पुत्रः ॥ ) सुरा छोड़ने के बाद पुनः सुरा-सेवक हो गये ( विशेषाभास ) ॥ १९ ॥

कोकण-देश में, जिसके द्वारा मेजी गयी मेना रूपी प्रचण्ड तम्र के द्वारा, मौर्य-  
रूपी तालाब की बाढ़ ( जलवृद्धि ) बंग में समाप्त हो गई ( रूपक ) ॥ २० ॥

अपरजलधेलक्ष्मी यस्मिन्पुरीं पुरभित्प्रभे

मदगजघटाकारैर्नावां शतैरवमृद्नति ।

जलदपटलानीकाकीर्णं नवोत्पलमेचक

जलनिधिरिव व्योम व्योम्नः समोऽभवदम्बुधि ॥२१॥

प्रतापोपनता यम्य लाटमालवगुर्जरा ।

दगडोपनतसामन्तचर्याचार्या इवाभवन् ॥२२॥

जब त्रिपुर-नाशक ( शिव ) के समान कान्ति वाता वह [ पुलिकेशी ],  
मनवाले हाथियों के समूह के आकार की अपनी मैकड़ों नावों के सहारे,  
पश्चिम-सागर की लक्ष्मीस्वरूपा पुरी का मर्दन कर रहा था तो मेघ-समूह  
रूपी सेना से घिर कर और नये कमल के समान काला बना हुआ आकाश  
समुद्र के समान हो गया और समुद्र भी आकाश के समान हो गया ( उप-  
मेयोपमा ) ॥२१॥

जिसके प्रताप से पराभूत होकर लाट, मालव और गुर्जर मानों उसके बल  
से दबे हुए सामन्तों के व्यवहार [ रूपी पाठ ] को पढ़ानेवाले बन गये ॥२२॥

अपरिमितविभूतिरूपीतसामन्तसेना— ५५५

मुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः ।

युधि पतितगजेन्द्रानीकवीभत्सभूतो

भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः ॥२३॥

अमित-धन से समृद्ध सामन्तों के समूह के मुकुट की मणियों की किरणों  
से जिस (हर्ष) के चरणारविन्द ढँके ये युद्ध में गिरे हुए बड़े-बड़े हाथियों  
के समूह से जो घृणित हो गया था ऐसे हर्षवर्धन ने उसके चलते भय से  
अपना आनन्द छोड़ दिया था ॥२३॥

## दिग्विलय

भुवभुरुभिरनीकै शासतो यस्य रेवा—

विधिधपुलिनशोभावन्ध्याविध्योपकण्ठ ।

अधिकतरमराजत्त्वेन तेजोमहिम्ना

शिल्लरिभिरिभवर्थो वर्ष्मणा स्पृष्ट येव ॥२४॥

विधिबहुपविताभि शक्तिभि शक्रकल्प ॥२५॥

तिसृभिरपि गुणैर्धै स्वैश्च माहाकुलाद्यै ।

अगमदधिपतित्व यो महाराष्ट्रकाणा ॥२६॥

नवनयतिसहस्रमामभाजा प्रयाणाम् ॥२७॥

जब वह अपनी विशाल सेना के सहारे पृथ्वी पर शासन कर रहा था, तब रेवा (नर्मदा) नदी के विविध बालुकामय तटों (पुलिन) की शोभा से समृद्ध बना हुआ विन्ध्याचल का समीपवर्ती प्रदेश उसका प्रताप की महिमा से और अधिक शोभने लगा [ किन्तु यह शोभा उसका ] दार्ढ्यियों के द्वारा त्याज्य [ समझी गई ] क्योंकि वे मानों अपनी विशालता के कारण पर्वतों से ईर्ष्या कर रहे थे (उपेक्षा) ॥२४॥ उस इन्द्रोपम राजा ने विधि से संगृहीत तीनों शक्तियाँ (अभु मत्र उत्साह) के द्वारा और अपने उच्चकुल आदि अनेक गुणों के द्वारा, नौ और नब्बे (२५) हजार गावाँ बाँझ तीनों महाराष्ट्रकों का आधिपत्य पाया था ॥२५॥

गृहिणा स्वगुणैस्त्रिवर्गस्तुङ्गा विहितायत्तितिपालमानभङ्गा ।

अभवन्नुपजातभीतिलिङ्गा यदनीकेन सकोसला कलिङ्गा ॥२६॥

पिष्टं पिष्टपुर येन जात दुग्मदुग्मम् ।

चित्र यस्य कलेर्धूत जात दुग्मदुग्मम् ॥२७॥

[ अपने यह रहनवाले ] गृहस्थों के अपने गुणों के कारण जो त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) में ऊँचा था दूसरे राजाओं के सम्मान नष्ट करने में प्रसिद्ध था—वह कलिङ्गदेश कोसल के साथ-साथ उसकी सेना के द्वारा

कावेरी दृढशफरीविलोलनेत्रा चोलाना सपत्नि जयोजतम्य यस्य ।  
प्रश्नोत्तमदगजसंतुद्धनीरा सस्पर्श परिहरति स्म रत्नराशे ॥३०॥

चोलकेरलपाण्ड्याना योऽभूत्तत्र महद्भये ।

कृ० १५१ पल्लवानीकनीहारतुहिनैतर्नीधिति ॥३१॥ ३५५११५

जब वह चोल-देश पर विजय पाने को शीघ्र तयार हुआ तब छोटी मक्कुनी के समान चंचल ओंखोंवाली कावेरी समुद्र के स्पर्श का परिहार कर रही थी क्योंकि उसका जल मद बुलाने वाले हाथियों के पुल से रुक गया था [ पुलिकेशी ने कावेरी के दक्षिण प्रदेश को जीतने के लिए नदी पार की थी पानी रुक जाने से समुद्र में नहीं पहुँच रहा था । कावेरी नायिका समुद्र रूपी पति के पास भय से नहीं जाती थी कि वह नायिका में गन्ध देखकर उपपत्ति रमण की शरा कर लेगा । तुल्य रघु ४।४५—स सैन्यपरिमोगेन गज-दानमुगाधिना । कावेरी सरिता पत्यु शङ्कनीयामिवाक्रोन् ॥ ] ॥३०॥ पल्लवों की सेना रूपी जुहासे के लिए सूर्यस्वरूप [ वह राजा ] वहाँ चोल केरल और पाण्ड्य देशों को समृद्ध करने लगा ॥३१॥

उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिसहिते यस्मिन्समस्ता दिशो

जित्वा भूमिपतीन्विमृश्य महितानाराध्य देवद्विजान् ।

वातापीं नगरीं प्रविश्य नगरीमेकामिवोर्षाभिमा

चरुचञ्जीरधिनीलनीरपरिखा सत्याश्रये शासति । ३२॥

सभी दिशाओं को जीतकर प्रतिष्ठित राजाओं को हटाकर देवता-ब्राह्मण का सत्कार कर और वातापी पुरी में प्रवेश करके, उत्साह, प्रभु और मन्त्र की शक्तियों के साथ वह सत्याश्रय ( पुलिकेशी द्वितीय ) जब अकेली नगरी-सी पृथ्वी पर शासन कर रहा था जिसकी परिखा ( चहारदीवारी की खाई ) के रूप में चंचल समुद्र का नीला जल था—॥३२॥

त्रि शत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाइयादित ।

सप्तान्दशतयुक्तेषु गतेष्वन्येषु परुचक्षु ॥३३॥

पञ्चाशत्सु कलौ काले पट्सु पञ्चशतासु च ।

समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥३४॥

भारत-युद्ध से आज तक जब तीस, तीन हजार, सात सौ और पाच ( ३० + ३००० + ७०० + ५ = ३७३५ ) वर्ष बीत गये ॥३३॥ तथा कलियुग में शक राजाओं के भी पचास, दूह तथा पांच सौ (५५६) वर्षों के बीत जाने पर ॥३४॥

तस्याम्बुधित्रयनिवारितशासनस्य

सत्याश्रयस्य परमाप्तवता प्रसादम् ।

शैलं जिनेन्द्रभवनं भवनं महिम्ना

निर्मापित मतिमता रविकीर्तिनेदम् ॥३५॥

जिसका शामन-क्षेत्र तीन समुद्रों से परिवृत है, उस सत्याश्रय की परम कृपा पाये हुए बुद्धिमान रविकीर्ति ने, सभी महिमाओं के भवन-स्वरूप पत्थर के इस जिनेन्द्र-मन्दिर को बनवाया ॥३५॥

प्रशस्तेर्वसतेश्चास्या जिनस्य त्रिजगद्गुरोः ।

कर्ता कारयिता चाऽपि रविकीर्तिः कृती स्वयम् ॥३६॥

येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेशम् ।

स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः । ३७॥

इस प्रशस्ति को तथा तीनों संसारों के गुरु जिन के मन्दिर को [ क्रमशः ] बनानेवाला और बनवाने वाला स्वयं विद्वान् रविकीर्ति ही है ॥३६॥ जिस बुद्धिमान ने नयी तरह से (उसी) बात को कहने के लिए, पत्थरों का दृढ़ जिन-मन्दिर बनवाया, उस रविकीर्ति की जय हो जिसने कविता में कालिदास और भारवि की कीर्ति पा ली है ( पादान्तयमक ) ॥३७॥